काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
93वाँ दीक्षांत समारोह

दीक्षांत भाषण

(हिन्दी अनुवाद)

श्री मोहम्मद हामिद अंसारी

भारत के माननीय उपराष्ट्रपति

12 मार्च, 2011

वाराणसी

भावी विश्व में राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावाद

वाराणसी अभिभूत करती है और इसके अच्छे कारण हैं। भगवान शंकर की यह नगरी जिसे ऋग्वेद में काशी या 'प्रकाशवान' कहा गया है, एक महान धरोहर के साथ परम श्रद्धा का स्थल भी है। सन् 1820 के आस-पास कवि असदुल्लाह खाँ ग़ालिब ने यहाँ एक महीना व्यतीत किया था। उन्होंने फारसी में इस शहर की तारीफ में एक सौ आठ शेरों की एक लंबी कविता लिखी जिसमें से कुछ पंक्तियां इस धारणा का बोध कराती हैं:

त'आल अल्लाह बनारस चश्म-ए-बद दूर
बिहिश्त-ए-ख़ुर्रम-ओ-फिर्दौस-ए-म'आमूर

(बनारस एक हरा-भरा सुन्दर स्वर्ग है। भगवान इसे बुरी नजरों से बचाए।)

ब-गंगश अक्स ता परतौ फ़िगन शुद
बनारस ख़ुद नज़ीर-ए-ख़ेशतन शुद

(बनारस ने जब गंगा में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो स्वयं अपनी मिसाल बन गया)

इस शहर तथा यहाँ के निवासियों के बारे में और भी बातें कही गयी हैं और कही जा सकती हैं। चीन के प्रसिद्ध यात्री श्वानचान ने भी इस शहर के धार्मिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक महत्व की पुष्टि की है। टैवर्नियर ने जहां एक ओर यहां की इमारतों की तारीफ की है वहीं तंग गलियों के बारे में अपनी नापसंदगी का इजहार भी किया है।

नीरद चौधरी के उद्धरण के अनुसार ब्रिटिश प्राच्यवादी लेखक होरेस विल्सन ने संस्कृत श्लोक के हवाले से यहां के घुमन्तू साधुओं के बारे में कहा :

'जो धर्मग्रन्थों के मूल तत्व और पवित्र परंपराओं से अनभिज्ञ हैं, जिन्होंने शुद्धता और सद्-आचरण का परित्याग कर दिया है तथा जिन्हें कहीं जाने के लिए कोई और जगह नहीं है, उनके लिए बनारस एक शरणस्थली है।'

यह प्राचीन सनातन शहर अनेक परिवर्तनों का साक्षी रहा है । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की 1916 में स्थापना ऐसी ही एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके नाम और ख्याति के बारे में कहने की जरूरत नहीं है। पंडित मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित यह विश्वविद्यालय भारत की अनेक पीढ़ियों के लिए राष्ट्रीय भावना का प्रतिनिधि बन गया है। इसने राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और इसने अनेक स्वतंत्रता सेनानियों और आधुनिक भारत के निर्माताओं को जन्म दिया है।

अतः अनेक कारणों से मैं विद्वानों और ज्ञानपिपासुओं की इस सभा में आकर आनन्दित हूँ।

दीक्षांत समारोह चिंतन-मनन एवं आत्मनिरीक्षण का अवसर प्रदान करते हैं। विश्वविद्यालय एक पीढ़ी के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों को इकट्ठा करता है। यह वह जगह है जहां अन्वेषण कार्य को प्रोत्साहित किया जाता है एवं नयी खोजें की जाती हैं । यह सूचना आधारित अनुमान की प्रेरणा देता है। इस तरह यह आने वाले समय और उसमें अपनी भूमिका के बारे में विचार मंथन का उचित मंच है, विशेष रुप से उस समय जब देश ने उच्चतर और समावेशी अर्थनीति और विकास के दायरे की ओर सार्थक कदम बढ़ाये हैं और अपने करोड़ों नागरिकों के गरिमामय जीवनयापन के लिए उनके सशक्तीकरण की दिशा में अग्रसर है ।

इस प्रयास में हमें घरेलू के साथ-साथ विदेश के माहौल का भी ध्यान रखना चाहिए क्योंकि यही हमारे भविष्य को आकार देंगे ।

II

1983 में साहित्य का नोबल पुरस्कार पाने वाले विलियम गोल्डिंग ने बीसवीं सदी का वर्णन करते हुए कहा कि मानवता के इतिहास में यह सबसे ज्यादा हिंसायुक्त सदी रही है। इस सदी में जनसंहार एवं अनेक युद्ध हुए हैं और इसका अंत वैश्विक अव्यवस्था में हुआ । सदी के अंतिम दशक में इतिहासकार एरिक हॉस्बाम ने कहा कि 'हमारी दुनिया में अन्तःस्फोट तथा विस्फोट दोनों के ही खतरे मौजूद हैं, इसे बदलना होगा।'

नई सदी, जिसका पहला दशक अभी ही खत्म हुआ है, इन चुनौतियों का सामना कर रही है। निःसन्देह यह माना जाता है कि विज्ञान, प्रौद्यागिकी, एवं नवप्रवर्तन राष्ट्र की संपन्नता एवं सेहत के लिए उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण होंगे। पिछले वर्ष लंदन की रायल सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट 'द साइंटिफिक सेन्चुरी' में इस विषय पर कहा गया हैः

'21वीं सदी में क्वांटम सि(ान्त, डबल हेलिक्स एवं इंटरनेट के समकक्ष और कौन से आविष्कार होंगे इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। लेकिन इस बारे में कोई शंका नहीं है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी हमारे रहन-सहन के तरीकों को रूपांतरित करती रहेगी, नए उद्यमों और रोजगारों का सृजन करेगी और असाध्य सामाजिक और पर्यावरणीय समस्याओं को सुलझाने में हमारी मदद करेगी।'

'इस नई और वैज्ञानिक सदी के पहले दशक में विश्व गंभीर आर्थिक संकट से धीरे धीरे उबर रहा है। खाद्य सुरक्षा, जलवायु परिवर्तन, स्वास्थ्य, असमानता इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय कार्यसूची में शामिल हो रहे हैं तथा चीन, भारत एवं ब्राजील जैसे देश विश्व के आर्थिक एवं राजनीतिक परिदृश्य को नवीन स्वरूप प्रदान कर रहे हैं।'

इस अवधारणा मे निहित कल्पना यह है कि यह न केवल वैज्ञानिक चुनौतियों वरन् सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों के बारे में हमारी विचारधारा को परिमार्जित कर देगी या बदल देगी। हम यह जानते हैं कि वैश्वीकरण एवं समकालीन विश्व की अंतर्सम्बद्धता ने एक हद तक वैश्विकता की अवधारणा या विश्वग्राम की चेतना को जन्म दिया है। लेकिन अपनी महत्वपूर्ण अवधारणाओं पर इस नवीन चेतना के पड़ने वाले प्रभावों की पड़ताल अभी हमने नहीं की है। हमारी इन अवधारणाओं ने पिछली दो शताब्दियों के दौरान हमारे चिंतन एवं क्रियाकलापों को आकार दिया था। इन्हीं अवधारणाओं में से एक अवधारणा है राष्ट्रवाद।

राष्ट्रवाद का उदय यूरोप में उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में एक प्रेरक शक्ति के रूप में हुआ। एक विचारधारा के रूप में इसने अपने आप को एक संप्रभु राष्ट्र के विभिन्न अवयवों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इसने राष्ट्रीय लाभ को बढ़ावा दिया, प्रतिद्वन्द्विता को उकसाया और इतिहास बनाया। इसने आधुनिक राष्ट्र एवं आधुनिक उद्योग को जोड़ने की आधारभूमि दी । इसके बाद इसने आक्रामक आयाम धारण कर लिया तथा साम्राज्यवादी रास्ता अख्तियार किया जिसके फलस्वरूप उपनिवेशित जनता की दुर्दशा हुई, और इसकी उचित प्रतिक्रिया भी हुई । इस बात को याद किया जाएगा कि विश्व समुदाय ने औपचारिक रूप से साम्राज्यवाद के खिलाफ अपने प्रतिवाद को दिसम्बर 1960 के संयुक्त राष्ट्र सामान्य सदन प्रस्ताव 1415 के रूप में व्यक्त किया । पूर्व-उपनिवेश को स्वतंत्र करने की वास्तविक प्रक्रिया ने थोड़ा अधिक समय लिया।

भारतीय राष्ट्रवाद को सबसे अच्छी तरह उपनिवेशविरोधी चेतना की राजनीतिक अभिव्यक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। आजादी के बाद नए भारतीय राष्ट्र ने न्याय, समानता, भाईचारा, प्रजातंत्र, धार्मिक सहिष्णुता, समावेशी आर्थिक विकास एवं सांस्कृतिक बहुलतावाद के मूल्यों को अपना लिया । वास्तविक उपलब्धियों के स्तरों के बीच भिन्नता तो है, परन्तु इसके कारण हमारी प्रतिबद्धता कम नहीं हुई तथा यह पिछले छह दशकों की परीक्षा में सफल रही है।

भारतीय राष्ट्रवाद किसी भी समय में गैरप्रजातियों के प्रति द्वेषपूर्ण नहीं रहा है। यह सबको साथ लेकर एवं एकीकृत करके चलने वाला था और आज भी है। अस्तित्ववादी वास्तविकता, विशेष रूप से हमारे समाज की बहुलतावादी प्रकृति इसका प्रमुख आधार रही है। जनतांत्रिक राजनीति एवं धर्मनिरपेक्ष संरचना ने इसे आकार दिया, पोषित किया और बनाए रखा है । इसका परिणाम सचमुच अद्वितीय है।

शंकालुओं की कभी कमी नहीं रही। भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रीयता के अस्तित्व में न होने की पुराने उपनिवेशवादी विचारधारा के साथ-साथ स्वशासन की क्षमता, एकता और अखण्डता, प्रजातंत्र के प्रयोग की सफलता, जनसमुदाय की तकलीफों को दूर करने जैसे मुद्दों को संदेह के रूप में प्रकट किया गया। कुछ लोगों को अधिक भरोसा था; अगस्त 1950 में ब्रिटेन के राजनीति वैज्ञानिक अर्नेस्ट बार्कर ने अपनी किताब 'प्रिंसिपुल्स ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल थ्योरी' के पहले पृष्ठ पर हमारे संविधान की प्रस्तावना को प्रकाशित किया है । उन्होंने कहा कि उनकी किताब के मर्म को यह प्रस्तावना संक्षेप में और सारगर्भित ढंग से प्रस्तुत करती है। संपूर्ण विश्व की जनसंख्या का छठवाँ हिस्सा होने तथा मानवता की विविधता को प्रतिबिम्बित करने के कारण हमें विश्व का सबसे बड़ा बहुसांस्कृतिक समाज कहा जाना उचित है ।

राष्ट्रवाद और अस्मिता पर तर्क-वितर्क हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के लोकसंवाद में मौजूद रहे हैं और संविधान सभा में इन पर जोरदार चर्चा भी हुई थी । इसने उस युग के वैश्विक विकास के प्रभाव को अंकित किया। इसके परिणामस्वरूप, संविधान की नजर व्यष्टि पर केन्द्रित तो थी ही, एक विद्वान शिक्षाविद के अनुसार, 'विविधता को स्वीकार करने तथा विभिन्न समूहों को औपचारिक जनतांत्रिक संरचना में प्रतिनिधित्व देने के मामले में भी यह अपने समय से काफी आगे की थी।'

बारीकी से देखने से पता चलता है कि इस प्रकार से ज्ञात बहु-पहचान हमारे संविधान में न्यायिक और कार्यकारी उद्देश्यों के चलते परिवर्धित की गयी है। इनकी संख्या कुल मिला कर तेरह है। इनमें धर्म, भाषा, जाति, जनजाति- जैसे एंग्लो इंडियन समुदाय, सामाजिक और शैक्षणिक आधार पर पिछड़े हुए वर्ग, नस्ल, क्षेत्र, जन्मस्थान या निवासस्थान, उम्र, लिंग, धार्मिक अथवा भाषाई अल्पसंख्यक और व्यवसाय जनित पहचान प्रमुख हैं। ध्यातव्य है कि इस विविधता का सम्मान नस्ल, जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, किसी भी आधार पर किसी प्रकार के भेद-भाव का संविधान के भाग ग्ग् में समुचित निषेध करते हुए किया गया है ।

इस प्रकार विविधता के तत्व को भारतीय राष्ट्र की विशिष्टता के रूप में विचारपूर्वक संविधान में शामिल किया गया है। कुछ विशेष समूहों के लिए सकारात्मक कार्यवाही के लिए बने हुए विशेष प्रावधान इस बात के सबूत हैं कि हम अपनी सामासिक संस्कृति के अन्तर्गत विविध पहचानों की रक्षा करने और उन्हें न्याय सुनिश्चित करने के लिये एक ऐसे संघीय ढांचे के

अर्न्तगत कृत संकल्पित हैं जो अपनी क्षेत्रीय अखंडता को बनाये रखने के उद्देश्य से संचालित होता है ।

इसका परिणाम यह है कि एक भारतीय व्यक्ति की मानकीकृत छवि की रचना नहीं हो सकती, और जब ऐसा करने का प्रयास किया जाता है तो वह छवि आंशिक, अधूरी और भ्रामक होती है । भारतीय राष्ट्रवाद और भारतीय राज्य की गतिकी अस्मिताओं की बहुलता की स्वीकृति एवं सम्मान की माँग करती है, तथा अपने नागरिकों पर यह जिम्मेदारी डालती है कि वे व्यक्तिगत स्तर पर किसी खास समय में इनके किसी खास बिन्दु पर कम या अधिक जोर दें। परवर्ती अवधारणा के चलते नृजातीय या लघु जातीयताओं को अभिव्यक्ति मिली और इससे तनाव फैला । इनका समाधान करने की चुनौती एक ऐसा काम है जो अभी प्रगति पर है । बहरहाल समांगीकरण अथवा आत्मसातीकरण इसका समाधान नहीं हो सकता । यह न तो संभव है, न वांछनीय ।

अपने विकास-काल के दौरान भारतीय राष्ट्रवाद की एक अन्य विशेषता उल्लेखनीय है। इसके पास बाहरी दुनिया की एक दृष्टि थी जो केवल उपनिवेशवाद विरोध से परिभाषित नहीं होती थी बल्कि भारत की विदेश नीति से सम्बन्ध रखती थी । 7 सितम्बर 1946 को अन्तरिम सरकार के प्रमुख के रूप में अपने सम्बोधन में जवाहरलाल नेहरू ने इसे व्यक्त किया था । उन्होंने 4 दिसम्बर 1947 को संविधान सभा में दिए गये अपने भाषण में इसको और विस्तार दिया था। उन्होंने कहा कि विदेश नीति के संचालन का आधार यह होना चाहिए कि हमारे देश के लिए सर्वाधिक हितकर क्या है। संविधान का 51वाँ अनुच्छेद भारतीय गणतन्त्र के लिए विदेश नीति और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों की दृष्टि प्रस्तावित करता है । यह हमारी राजनीतिक पहचान और सांस्कृतिक वैयक्तिकता को परिभाषित करता है ।

III

कुछ हद तक आधुनिक भारतीय राज्य का अनुभव अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के अन्य राज्यों के अनुभव के समतुल्य है । संप्रभुता का प्रयोग बाहरी और आन्तरिक चुनौतियों से राज्य की सुरक्षा करने, आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने, देश और इसके नागरिकों के लिए सर्वाधिक हितकर स्थितियों को प्राप्त करने के लिए किया गया है।

देश हित के रास्तों की यह तलाश हमेशा स्वायत्त उपक्रम नहीं रही है । 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में वैश्विक संक्रमण का एक ऐसा दौर आया जिसमें पारदेशीय चुनौतियों का सामना करते हुए राज्यों ने उच्चतर सामूहिक उद्देश्यों के लिए सम्प्रभुता की कुछ पूर्व धारणाओं का परित्याग कर दिया । 1992 तक आते-आते संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव बुतरस घाली इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सम्पूर्ण और निरपेक्ष सम्प्रभुता का युग समाप्त हो गया है। उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों से 'आन्तरिक सुशासन और सर्वाधिक परस्पर निर्भर विश्व की आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाने' का आग्रह किया ।

यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि इस सिद्धान्त को मात्र विचार के रूप में लेना इसे व्यवहार में लागू करने से अधिक आसान है । इसकी वजह शासन के सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर तथा सुविधापूर्वक अनिवार्य मान लिए गए राष्ट्रीय हित के अनुष्ठान की अवधारणा में निहित है। इसके नतीजे के तौर पर, एक तरफ तो हमने अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय मानकों को अपना लिया है, वहीं दूसरी ओर समय-समय पर राज्य की नीति और उसके व्यवहार में उनके अनुपालन से कतराते रहे हैं ।

'राष्ट्रीय हित' के निर्धारण और उसके सुस्पष्ट विवरण के बारे में भी कुछ जायज सवाल उठते हैं। उदाहरण के लिए वर्गीय एवं क्षणिक हितों, तथा व्यापक व दूरगामी हितों के बीच अन्तर कर पाना कठिन होता है । इसी प्रकार वैश्विक समुदाय के मानदन्डों के प्रति हमारी वचनबद्धता और राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय सम्प्रभुता के बीच तालमेल बिठाना असान नहीं होता।

स्पष्ट रूप से कि वैश्विक मुद्दों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वे किसी प्रकार की सीमा का सम्मान नहीं करते । अपनी जटिल प्रकृति के कारण वे अन्तर्विषयी होते हैं, और परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। वैश्वीकरण ऐसी प्रक्रियाओं का एक समूह है जो नयी तकनीकों, नए आर्थिक सम्बन्धों, और एक विशाल वर्ग, जिसमें सरकारें, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान, वाणिज्यिक प्रतिष्ठान आदि शामिल हैं, की राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों द्वारा संचालित होता है ।

इसके बावजूद हम स्वाभाविक रूप से वैश्विक, अन्तर्विषयी और बहुकारकीय तरीके से नहीं सोचते । दो बुनियादी बातें इस प्रकार के विषयों पर हमारे चिन्तन और व्यवहार को प्रभावित करती हैं । इनमें से पहली का सम्बन्ध वैश्विक चिन्तन से मिलने वाले लाभ से जुड़ा है और दूसरे का इससे पैदा हाने वाली जिम्मेदारियों के निर्वाह से ।

हाल के वर्षों में हमने अपने लिए राष्ट्रीय उद्देश्यों और अन्य लक्ष्यों का निधारण किया है । इसमें हमने अपनी प्रगति की दिशा का ध्यान रखते हुए विकास के उन स्तरों का उल्लेख किया है जिन्हें 2040 या 2050 तक हम प्राप्त कर सकते हैं। इसी के साथ हमने वर्ष 2015 के लिए घोषित संयुक्त राष्ट्र संघ के सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्य को भी स्वीकार किया है । ये दोनों बातें अलग-अलग तरीकों से हमें वैश्विक चिन्तन के लिए प्रेरित करती हैं। एक विद्वान ने उचित ही कहा है कि ''जिन संरचनात्मक स्थितियों ने आधुनिक राष्ट्रवाद को जन्म दिया था वे बदल चुकी हैं।''

वैश्वीकरण से उभरे हुए चार व्यापक विचार समूह अन्तर्राष्ट्रीय क्रम में राज्य व्यवस्था की भूमिका के लिए चुनौती उपस्थित करते हैं -

पहला, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्रम का पुनर्निधारण राजनीतिक वैश्वीकरण को प्रतिबिम्बित करता है । राजनीतिक वैधता और विश्वसनीयता को सुशासन, जवाबदेही, शिष्ट समाज एवं नागरिक वर्ग से जोड़ दिया गया है। इसे शीत युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ, विशेष कर सुरक्षा परिषद की कार्य सूची में बखूबी देखा जा सकता है । मानवाधिकारों के नये मानकों का क्रियान्वयन और मानवीय हस्तक्षेप, तथा अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक अदालतों को मामलों को संदर्भित करना इसका एक आदर्श एवं शिक्षाप्रद उदाहरण है ।

दूसरा, बढते हुए आर्थिक खुलेपन, बढ़ती हुई आर्थिक परस्पर-निर्भरता तथा विश्व अर्थव्यवस्था का गहनतर आर्थिक एकीकरण के माध्यम से स्वयं को प्रकट करता हुआ आर्थिक वैश्वीकरण, ये सभी सुविधाओं के साथ जिम्मेदारियाँ भी बढ़ाते हैं।

तीसरा, सांस्कृतिक रूप-विधानों और सूचनाओं का क्षेत्रीय विशिष्टताओं से परे वैश्विक उत्पादन, वितरण एवं उपभोग हाल के सांस्कृतिक वैश्वीकरण के रूप में परिलक्षित होता है । इसके फलस्वरूप फिल्म, संगीत एवं खेल जैसे सांस्कृतिक उत्पादों से आय के साथ-साथ क्षेत्रीय सीमाओं के बाहर सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा है। इन्हीं परिस्थितियों से आज के खेल संघ तथा फिल्म-उद्योगों का उदय हुआ है और उनके असाधारण वैश्विक व्यावसायिक प्रतिरूप इस मुद्दे को सुस्पष्ट करते हैं।

चौथा, ऐसा लगता है कि राज्यों का विराष्ट्रीयकरण हो रहा है । हम अधिराष्ट्रीय एवं उपराष्ट्रीय तत्वों की भूमिका को बढ़ते हुए देख रहे हैं। एक तरफ वे वैश्विक समस्याएं हैं जो अपनी उत्पत्ति एवं प्रभाव में राष्ट्र की सीमाओं से बाहर चली गयी हैं। सार्वभौम महामारी, जलवायु एवं पर्यावरण सम्बन्धी घोर विपत्तियाँ तथा आर्थिक या वित्तीय संकट इसी कोटि में आते हैं । इनका हल वैश्विक स्तर पर बातचीत, सहयोग एवं क्रियान्वयन से ही संभव है। दूसरी तरफ राज्य को दरकिनार करते हुए वास्तविक और आभासी विश्व समुदाय के रूप में सक्रिय सिविल सोसाइटी समूहों द्वारा स्थानीय स्तर पर कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों को निपटाया जा सकता है।

यह सभी बातें राष्ट्र-राज्य की निरंकुश सम्प्रभुता को भीतर और बाहर से नियन्त्रित करके उसके व्यवहार को बेहतर बना सकती हैं ।

इसके बावजूद कुछ प्रतिगामी ताकतें भी प्रकट हुई हैं। भूमंडलीकरण ने राष्ट्रीयता के पुनरुत्थान एवं राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक पहचान पर जोर देने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। इसके फलस्वरूप, राज्य के संचालकों को कुछ अस्वस्थ प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा है, जैसे, ऐसा राष्ट्रवाद जो समरूपीकरण पर जोर देता है, विविधता को समाप्त करता है तथा जिसमें स्थानीय संस्कृति, मूल्य प्रणाली तथा रहन-सहन के लिए कमतर सम्मान है।

IV

इक्कीसवीं सदी के दूसरे तथा अपने गणतंत्र के छठे दशक में प्रवेश करते हुए स्वाभाविक रूप से कुछ प्रश्न मन में उठते हैं-

* हमारे नागरिक भारतीय राज्य में, उपराष्ट्रीय, प्रादेशिक एवं स्थानीय इकाईयों तथा अधिराष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अपनी भूमिका को किस रूप में देखते हैं ?
* क्या राजनैतिक या आर्थिक संकट के समय में लोकतान्त्रिक राज्य के ढांचे में हम समूहों के अधिकार, विविधताओं, अस्मिताओं, पहचानों एवं हैसियत को समायोजित कर पायेंगे ? क्या सामान्य जनता और उनके नेता आर्थिक सुविधाओं अथवा राजनीतिक अवसरों की कमी होने पर राष्ट्रवाद के नाम पर सांस्कृतिक बहुलता से किनारा कर लेंगे ?
* हमारी राज्य व्यवस्था, नस्लीय, भाषाई एवं आर्थिक या राजनैतिक हितों पर आधारित अधिराष्ट्रीय राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समुदायों से किस प्रकार निपटेगी ?

राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बारे में सतत् संवाद के द्वारा इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त किया जा सकता है। बाहरी दुनिया के लिए भारतीय प्रतिमान की बढ़ती प्रासंगिकता की संभावना के बीच कुछ हिस्सों से सांस्कृतिक बहुलता के प्रभाव एवं प्रासंगिकता पर सवाल उठ रहे हैं।

कुछ वर्ष पहले नई दिल्ली में दिये अपने भाषण 'द नेशन-स्टेट इन द ग्लोबल एज' में समाजशास्त्री एन्थोनी गिडेन्स ने कहा था- 'सार्वभौम राष्ट्र के निर्माण, जिसमें अस्मिताओं और विविधताओं का सहअस्तित्व हो, के द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय कार्यसूची को प्रभावी तरीके से लागू एवं विकसित किया जा सकता है।'

मैं आज के दिन उपाधि प्राप्त करने वाले छात्रों को बधाई देता हूँ तथा इस विश्वविद्यालय के बाहर की दुनिया में उनकी सफलता एवं प्रसन्नता की कामना करता हूँ।

मैं इस दीक्षांत समारोह में आमंत्रित करने के लिए कुलाधिपति डा. कर्ण सिंह जी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को धन्यवाद देता हूँ।